

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक मानवीय मूल्यों की प्रासंगिकता

विषय संकेत:- वेद और मानवीय मूल्य, नैतिक मूल्य

समाज जीवन में मूल्यों की महत्ता असंदिग्ध है। किसी भी समाज में प्रचलित मानवीय मूल्य उस संस्कृति की उच्चता के परिचायक होते हैं। प्राचीन आर्य चिन्तन में आविष्कृत मूल्यों की वर्तमान संदर्भ में परीक्षण का प्रयास न केवल भारतीय साहित्य की उच्चता का बोध करना है बल्कि जीवन्त समाज की अधुण सांस्कृतिक परम्परा का अन्वेषण है। प्रस्तुत शोध आलेख इसी आनुष्मिक चिन्तन का प्रतिफलन है।

वेदों में प्रतिपादित नैतिक एवं मानवीय मूल्य किसी स्थान, काल या देश-धर्म की परिधि में बँधे हुये नहीं हैं अपितु शाश्वत, सार्वभौम तथा सार्वकालिक हैं। यही कारण है कि युगों से मानव मात्र का मार्गदर्शन करता हुआ यह वैदिक साहित्य आज भी तथा आने वाले युगों पर्यन्त 'सर्वजन हिताय एवं सर्वजन सुखाय' कल्याणकारक नीति-नियमों, आदर्शों तथा संस्कारों का दिग्दर्शन तथा उद्घोष करने में समर्थ है।

मानवीय मूल्यों या नैतिक गुणों पर यदि विचार करें तो हमें समस्त वैदिक साहित्य मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत मिलेगा। वैदिक साहित्य से लेकर वेदांगों में जहाँ एक ओर सत्यवादिता, श्रेष्ठजनों के प्रति सम्मान, त्याग, सदाचार, सत्संगति, अतिथि-सत्कार, दान-धर्म एवं 'ईशावास्यमिदं, सर्वं', 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम', 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' सदृश मंत्रों द्वारा ईश्वर की व्यापकता एवं अनासक्त भाव का सम्प्रेषण जैसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानवीय मूल्य दृष्टिगोचर होते हैं, वहीं दूसरी ओर पारिवारिक सौमनस्य, विश्वबन्धुत्व की भावना एवं देशानुराग भी भारतीय आर्यों में चरमोत्कर्ष पर था, जो आज समग्र मानव जाति के लिये पथ-प्रदर्शन का कार्य सम्पन्न करता है। यदि हम वैदिक शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों को स्थापित करें, तो पुनः प्रेम, दया, परोपकार, सहानुभूति आदि की भावना का विकास करके समाज को दृढ़ बनाया जा सकता है। मानव एक बुद्धिजीवी प्राणी है और बुद्धितत्त्व की कामना वेद में बहुशः देखने को मिलती है। वेद ने उसे मानव होते हुये भी सच्चे अर्थों में मानव बनने एवं दिव्य गुणों के धारण करने की धारणाओं से अवगत कराना आवश्यक समझा है -

मनुर्भव जनया दैवयं जनम्।

मानव के जीवन में पदे-पदे अनेकानेक विघ्न बाधाओं के फलस्वरूप मानवीय मूल्यों के गिरने की सम्भावना बनी रहती है। इसलिये सतत् सावधानी बरतने की दृष्टि से उसे वेद ने मनुर्भव का उपदेश दिया है, यहीं मानव को अत्यधिक उदात्त मूल्यों के संरक्षण एवं संवर्धन की बात कही गयी है, इन्हीं को लक्ष्य कर वेद ने उदात्त मानव मूल्यों के आश्रय में रहकर जीवन जीने की चर्चा की है, इन्हीं मानवीय मूल्यों के स्वरूप को सरल, सरस, हृदयग्राह्य एवं लौकिक भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

ऋग्वेद में ऋत् अर्थात् सत्य को धर्म कहा गया है - 'सुगा ऋतस्य पन्थाः।' समस्त चराचर में व्याप्त जगत् शब्द सत्य तथा तप का व्यञ्जक है और धार्मिक क्षेत्र में यह यज्ञ और संस्कार का द्योतक है। ऋग्वेद (10/190) के एक सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में तप से ऋत की उत्पत्ति हुयी। उसके पश्चात् रात्रि, सागर, वर्ष एवं फिर विधाता ने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, वायु तथा अन्तरिक्ष का सृजन किया। इस प्रकार ऋत का अस्तित्व एवं महत्व स्वतः सिद्ध है। वेदों में ऋत का अर्थ-अनुशासन या व्यवस्था से लिया गया है। ऐसा अनुशासन, जिसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है। इस कठोर नियम से आबद्ध ऋग्वेद के ऊषा सम्बन्धी एक ऋचा में भी कहा गया है कि द्युलोक एवं द्युस्थानीय ज्योतिर्मय वस्त्रों को धारण किये हुये, सबके प्रति सद्भावना रखने वाली यह ऊषा देवी सामने दृष्टिगोचर हो रही है। मानो वह सत्य के मार्ग का बुद्धिपूर्वक अनुसरण करती हुयी कभी भी अपने नियमों का अतिक्रमण नहीं करती है -

एष दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि

ज्योतिर्वसना सुमना पुरस्तात्।

ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधु

प्रजानतीव न दिशो मिनाति।²

वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सत्य का प्रभावशाली वर्णन देखने को मिलता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि परम सत्य ऋत, वाणी, मन और दृष्टि से अतीत है -

“नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।”³

इस प्रकार यदि ऋत के सिद्धान्त पर विचार किया जाये, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसके द्वारा ही वेद की विश्वजनीन संस्तुति का निरूपण हुआ है। उसके मूल में महान भारतीय आदर्श निहित है। आधुनिक भौतिकवादी विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक वस्तु के बाह्य रूप का आधार उसका भीतरी रूप होता है जो कि अप्रत्यक्ष या अदृष्ट है। प्रति रूप में वही मूल सत्ता ऋत है, जो कि सारी सृष्टि को नियमित तथा संचालित किये है। वैदिक वाङ्मय की दिव्य एवं उदात्त भावना का यही आधार है।

वेद में द्वेष को ऐसा मानवीय दुर्गुण कहा है, जिससे सिवाय शत्रुता के कुछ भी प्राप्त नहीं होता, इसलिये अथर्ववेदीय ‘मनसा परिक्रमा’ के मन्त्रों में द्वेष की प्रवृत्ति को प्रभु की न्याय व्यवस्था में रखने की बात कही है।⁴ यजुर्वेद में परस्पर मिलकर रक्षा करने, भोज्य पदार्थों का सेवन करने, अध्ययन करने की चर्चा कर मैत्रीभाव रखना एवं द्वेषभावों से सुतराम् दूर रहने पर बल दिया गया है -

सह नावतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।⁵

वैदिक वाङ्मय में मानव मूल्यों के सार्वभौम स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण किया गया है। सम्पूर्ण मानव जाति को एक ही पिता का सन्तान मानकर राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने की बात कही गयी है। इसप्रकार की भावना से पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष स्वतः समाप्त हो सकते हैं -

सः नः पितेव सूनेवेऽग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये।⁶

किसी भी समाज की उन्नति तभी सम्भव है जब लोगो में एक-दूसरे के प्रति परस्पर सहयोग, प्रेम, परोपकार आदि की भावना विद्यमान हो। इस विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि -

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम।

देवा भागं यथापूर्वं संजानाना उपासते।⁷

अर्थात् हम सब परस्पर मिलकर रहें, एक साथ स्त्रेत पाठ करें, हम सबका मन एक समान हो, हम सब उसी प्रकार एक साथ अपना प्राप्य ग्रहण करें, जैसे देवतागण एक साथ मिलकर अविरोध भाव से अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं।

अथर्ववेद के (17/1/7) मंत्र में कहा गया है कि मनुष्य मात्र के प्रति (चाहे मैं उसको जानता हूँ या नहीं) मेरी सद्भावना हो-“याश्च पश्यामि याश्च न, तेषु मा सुमति कृधि।” इसी प्रकार अथर्ववेद के (3/30/4) मंत्र में कहा गया है कि हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो- “तत्कृण्वं ब्रह्म वो संज्ञान पुरुषेभ्यः।” समाज में श्रेष्ठता, हीनता, उच्चता तथा निम्नता की विषमतायें उत्पन्न न हो, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर ईशावास्योपनिषद् में व्यक्तिगत स्वत्व अधिकार से उत्पन्न होने वाले वैषम्य के कारण को दूर करने के उद्देश्य से कहा गया है -

ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन व्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृथाः कस्य स्विद्धनम्।⁸

ऋग्वेदीय ऋचा में द्वेष एवं असूया को प्रायः समतुल्य कहा है तथा इस द्वेष या असूया के जन्म में वस्तुतः मानसिक दुर्बलता मूल कारण है, जो पाप एवं अपराध की ओर उन्मुख करती है।⁹ यही कारण है कि वेद ने द्वेषभाव का शमन करने के लिये प्राणियों से मित्रभाव रखना अनिवार्य कहा है। यही भावना है विश्वबन्धुत्व की और यही कारण था वैदिक परम्परा एवं संस्कृति से ही निकला एक विश्व प्रसिद्ध नारा वसुधैव कुटुम्बकम्। यह थी उदात्त परिकल्पना वैदिक चिन्तन की जिसमें एक द्वारा दूसरे व्यक्ति की रक्षा की बात कही गई है -

पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वतः।¹⁰

वैदिक वाङ्मय में आचारदर्शन के परिप्रेक्ष्य में जो शिक्षा प्रदान की गयी है उस पर यदि हम दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होता है कि इन्हीं दर्शनों पर चलकर ही मानव को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है -

मा नः शंसोऽअरन्रूपो धर्ति प्रणङ् मर्त्यस्य।

रक्षाणो ब्रह्मरचते।¹¹

वह व्यवहार, जो दूसरों के द्वारा अपने साथ होने पर मनुष्य को उचित न लगे, उसको

वैसा व्यवहार दूसरों के साथ कदापि नहीं करना चाहिये। मनुष्य जैसे अपने लिये सुख की इच्छा करता है, वैसे ही दूसरों के लिये भी सुख की इच्छा करे, वही सत्कार के योग्य होता है। जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है -

इष्कर्तारमधवरस्य प्रचेतसं क्षयन्तम् राधसो महः।

रति वामनस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिम् रथिम्॥¹²

यजुर्वेद में कहा गया है कि - मैं जैसा कर्म करता हूँ वैसा ही परमेश्वर की व्यवस्था से फल भोगता हूँ एवं भोगूँगा। मनुष्य अपने कर्म के विरुद्ध फल को कभी प्राप्त नहीं होता है। अतः सुख भोगने के लिये मनुष्य को धर्मयुक्त कर्म ही करने चाहिये -

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽवाऽस्मि सोऽस्मि॥¹³

सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वप्राचीन ईशावास्योपनिषद् में कर्मोपासना का बहुत ही मार्मिक विवेचन वर्णित है। मनुष्य को शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों का आचरण करते हुये सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिये -

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥¹⁴

आदर्श मानव की एक सर्वाधिक प्रमुख इकाई है - परिवार। प्रत्येक सदस्य परस्पर आजीवन जुड़ा रहता है। उनके लिये प्रशस्त आदर्श का सन्देश अथर्ववेद देता है कि प्रत्येक का कर्तव्य है कि अपने माता-पिता के प्रति स्वस्तिमय सद्भाव का आचरण करे, यद्यपि उनकी उपेक्षा न करता हुआ उन्हें सदैव सत्कृत एवं सन्तुष्ट रखें - स्वस्ति मात्र उत पित्रो नो अस्तु॥¹⁵ वेद की यह शिक्षा सुतराम् धारणीय होनी चाहिये कि जन्मोपरान्त माता-पिता को कष्ट पहुँचाता हुआ मैं स्वयं अत्यन्त प्रमुदित रहा, तो मुझे चाहिये कि वे शिथिल हो चुके हैं, उन्हें कदापि किसी भी रूप में पीड़ित न करता हुआ उनकी सदा सेवा एवं सत्कार में रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनके ऋण से उन्मूढ होऊँ -

यदापिवेष भातरं पुत्रः भवतु प्रमुदितोधयन्।

एतत्तदग्रे अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥¹⁶

इसी दिशा में पारिवारिक सदस्यों को वेदोक्त आचार संहिता अपने जीवन में इस आचार को अपनाने को कहती है - कि पुत्र पिता के अनुकूल कर्तव्यनिष्ठ होवे, माता के साथ श्रमायुक्त मनवाला रहे, पत्नी पति के प्रति मधु, शान्तिमयी वाणी का व्यवहार करे, भाई-भाई के प्रति द्वेष न करे, बहिन-बहिन के साथ प्रेम के साथ व्यवहार करे तथा अन्य सभी परस्पर प्रेम एवं सद्भाव रखें -

(क) अनुव्रतः पितुः पुत्रे मात्र भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

(ख) मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यंचः सन्नता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया॥¹⁷

अथर्ववेद में स्पष्ट सन्देश दिया गया है कि परम सत्ता की ओर से सभी सदस्यों का हृदय परस्पर प्रेम एवं सद्भाव वाला बनाया गया है, इसलिये परस्पर एक-दूसरे को सभी तरह से चाहो, जैसे गौ अपने सद्योजात बछड़े के प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे तुम भी सब परस्पर अभिनव, छल, कपट, द्वेष से सर्वथा रहित होकर विशुद्ध स्नेह से युक्त होकर आनन्दित रहो -

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाध्न्या॥¹⁸

धर्म व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का आधार है। पुरुषार्थ चतुष्टय की पूर्ति धर्मानुसार आचरण करते हुये पूर्ण करना चाहिये। अर्थ पुरुषार्थ की पूर्ति धर्म के साथ तथा काम पुरुषार्थ की पूर्ति मात्र वासनाओं की तुष्टि के लिये नहीं, अपितु ऋणों से मुक्ति हेतु तथा मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। इनकी प्राप्ति के लिये सभी एषणाओं का त्याग वाँछित है -

स भूपिं सर्वत्र स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥¹⁹

जो व्यक्ति धर्मपूर्ण व्यवहार करते हैं उनकी विचारधारा, क्रियाकलाप सभी धर्मपूर्ण होते हैं। इससे समाज, राष्ट्र और स्वयं व्यक्ति का बहुमुखी विकास होता है। अतः मनुष्य को सदैव धर्मानुकरण ही करना चाहिये -

त्वं नः सोम विश्वतो सखा राजन्धायतः।

न रिष्येत् त्वावतः सखा॥²⁰

अर्थ मानव जीवन के निर्वाह हेतु अत्यावश्यक है, किन्तु अन्याय, अनीति, रिश्वत अथवा बिना परिश्रम एवं किसी को कष्ट देकर अर्जित लक्ष्मी अर्थात् धन मानव को विनाशकारी, समाज में संघर्षकारी एवं पापकारी बनाता है। श्रम, धर्मयुक्त उपायों तथा दूसरों को बिना कष्ट पहुँचाये

अर्जित अर्थ (धन) की वेद प्रशंसा करता है और मानव को यह कहते हुये आगाह करता है कि जिस प्रकार वन्दना (अमरबेल) नामक लता हरे-भरे वृक्ष को पनपने नहीं देती है, शोषण करती है, उसी प्रकार भ्रष्ट तरीके से अर्जित लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी एवं धर्म व नीति से भ्रष्ट करने वाली होती है। वेदों में दोषपूर्ण लक्ष्मी से सदा दूर रहने का परामर्श दिया गया है -

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।

अन्यत्रस्मात् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः।²¹

वेद निर्देश देता है कि पुण्यार्जित लक्ष्मी में रमण करने से अत्यन्त सुख शान्ति मिलती है तथा पापमय साधनों से अर्जित कुलक्ष्मी उसी मनुष्य को सकुल बार-बार नाश करती है, 'अनीनशम्' आख्यात पद बार-बार नाश करने की ओर इंगित करता है। ऐसी पापमयी लक्ष्मी को घर से दूर चले जाने एवं दूर रहने की प्रार्थना की गयी है -

(क) रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।²²

(ख) प्रतेतः पाप लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत।²³

वैदिककालीन शिक्षा ने संतुलित एवं सुशिक्षित व्यक्तित्व के निर्माण का सदैव उपदेश किया है और ऐसे मूल्य स्थापित किये हैं जिनके आधार पर व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। इस सन्दर्भ में यदि हम वैदिक साहित्य को देखें तो हम पाते हैं कि सभी मनुष्यों की पृष्ठभूमि ऐसी बनायी गयी है कि वे देश हित एवं मानवहित से अलग सोच ही नहीं सकते। वेदों में कहा गया है कि जिनके पढ़ाने से विद्या बढ़े, उसके संग से समस्त विद्याओं का सर्वथा निश्चय करें, एवं वे विद्यायें अधिक उचित होती हैं, जिनसे व्यक्ति के आन्तरिक गुणों का विकास होता है। जो मनुष्य विद्या और सुशिक्षा चाहते हैं उनको धर्मपूर्वक विद्या देना चाहिये, तथा जो अधिक विद्या वाले हैं उनसे विद्या ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है -

ब्रह्मणि में मतयः शँ सतासः शुष्मऽइयति प्रभृतो मेऽअद्रिः।

आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नोऽअच्छ।²⁴

मानवीय जीवन के सौन्दर्य में मधुरता की अहं भूमिका को वेद ने रेखांकित किया है। मधुरता का अभिप्राय सहजता, नैसर्गिकता, सरलता एवं मुधुर वाक् प्रयोग है। मधुर वाणी प्रयोग का उद्देश्य दुःखों से रक्षा करना माना जाता है। कर्कश व्यवहार एवं कठोर वाणी का प्रयोग वस्तुतः सामाजिक अथवा वैधानिक दृष्टि विशेष दोष या अपराध न होने पर भी मानवीय दृष्टि से अपराध माना जाता है। ऋग्वेद ने कर्कश व्यवहारकर्ता एवं कठोर वाक् प्रयोग करने वालों की निन्दा करते हुये उन्हें गहिर्त व्यक्ति कहा है -

इन्द्राग्नी अवसा गतमस्यभ्यं चर्षणीसहामा नो दुःशंसः ईशत।²⁵

जीवन की मधुरता अथवा कटुता क्रमशः निर्भर करती है मधुर वागव्यवहार पर। अतः मानवीय जीवन अच्छा, मधुर एवं सुखकारी हो, एतदर्थ अथर्ववेद में मधुरता का उल्लेख उदात्त रूप से मिलता है।²⁶ इसी के साथ ही परस्पर मधुर सम्भाषण करने, वृक्षों का मधुरता से सम्मान करने, सुविचारशीलों को एकमत होने पर पर्याप्त बल दिया गया है-

ज्यायस्वन्तश्चितिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।

अन्यो अन्यस्मै वल्युवदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसरुणोमि।²⁷

मानव जब तक दुराचरण एवं दुर्व्यसनों को तिलांजलि नहीं देगा, तब तक सच्चे अर्थों में उसके मानव मूल्यों का विकास होना नितान्त असम्भव है। मानवीय मूल्यों के विकास के लिये जाग्रत अथवा सुप्तावस्था अथवा ज्ञाताज्ञातावस्था में बुरे संस्कारों, दुष्ट प्रवृत्तियों एवं दुष्टाचारणों को जीवन में स्थान कथमपि न देना परम आवश्यक है -

यदाशसा निःशासाभिशासोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।

अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु।²⁸

इसप्रकार आज के भौतिकवादी युग में मानव कल्याण के लिये जिन मानव मूल्यों की आवश्यकता है, वे मानवतावादी मूल्य वैदिक साहित्य में सहज ही सुलभ हैं। यदि आज हम इन वैदिक मूल्यों एवं सिद्धान्तों को स्थापित करें, तो पुनः विश्व में प्रेम, दया, सौहार्द की भावना का विकास करके समाज को दृढ़ बनाया जा सकता है। 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्यदेवो भव', 'अतिथिदेवो भव', 'सत्यं वद', 'वसुधैव कुटुम्बकं', इत्यादि मूल्य आज भी विश्व की सामाजिक व्यवस्था को दृढ़ बनाने में सहायक हैं।

सन्दर्भ :-

1. ऋग्वेद - 10/3/6 2. ऋग्वेद - 1/124/3 3. कठोपनिषद् - 6/12
4. योमान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्मे दहमः॥ अथर्ववेद - 3/27/1-6
5. तैत्तिरीय आरण्यक - 9/1 6. ऋग्वेद - 1/1/9 7. ऋग्वेद-10/191/2, अथर्ववेद - 6/64/1 8. ईशावास्योपनिषद्-प्रथम मंत्र

शोध संचयन SHODH SANCHAYAN

ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of
Humanities & Social
Sciences

Half Yearly

Vol-3 Issue-1
15 Jan-2012

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में
वैदिक मानवीय मूल्यों की
प्रासंगिकता

डॉ० प्रीति राठौर

वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत
विभाग, डी०बी०एस०
कालेज, कानपुर

www.shodh.net

9. इन्द्रासोमा समघर्षासमभ्ययर्घं तपुर्ययस्तु चरुरग्नि वाँ इवा ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो ध
त्तमनवायं किमीदने॥ ऋग्वेद - 7/104/2
10. ऋग्वेद - 6/75/14 11. यजुर्वेद - 3/30 12. यजुर्वेद - 12/110
13. यजुर्वेद - 2/28 14. ईशावास्योपनिषद् - द्वितीय मंत्र 15. अथर्ववेद - 1/31/4
16. यजुर्वेद - 19/11
17. अथर्ववेद - 3/30/2-3 18. अथर्ववेद - 3/30/1
19. यजुर्वेद - 24/1 20. ऋग्वेद - 1/91/8
21. अथर्ववेद - 7/115/2 22. अथर्ववेद - 7/115/4
23. अथर्ववेद - 7/115/1 24. यजुर्वेद - 33/78
25. ऋग्वेद - 7/94/7 26. जिह्वाया अग्रे मधु में जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह कृतावसो मम
चित्तमुपयसि। मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसन्दृशम्॥
अथर्ववेद - 1/34/2-3
27. अथर्ववेद - 3/13/5
28. ऋग्वेद - 10/164/3